

श्रीमतिकीर्त्युपाध्यायविवरचिता क्षोपज्ञवृत्तिविभूषिता गुणकित्व-घोडशिका

- म. विनयसागर

गुणकित्व-घोडशिका व्याकरण के एक लघु-अंश पर विचार-विमर्श करती है। व्याकरण शब्दों पर अनुशासन करता है अर्थात् शब्दों के उद्गम स्थान से लेकर उच्चारण पर्यन्त इसका अनुशासन चलता है। इन्हीं वर्णों से मन्त्र और तन्त्रों का भी निर्माण होता है। इसीलिए महाभाष्यकार भगवान पतञ्जलि भी कहते हैं कि - 'एक शब्द के भी शुद्ध उच्चारण से समस्त प्रकार का मङ्गल होता है और स्वर या वर्ण का अशुद्ध उच्चारण शत्रु की तरह अनर्थकारी होता है।' वैयाकरणों की यह मान्य परम्परा रही है कि वे शब्दों के लाघवमात्र से पुत्रजन्मोत्सव की तरह उत्सव मनाते हैं।

लेखक-परिचय :

मतिकीर्ति खरतरगच्छ की परम्परा में क्षेमकीर्ति शाखा में महोपाध्याय श्रीजयसोम के प्रशिष्य और गुणविनयोपाध्याय के शिष्य हैं। इनका कोई ऐतिहासिक परिचय प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मतिकीर्ति में 'कीर्ति'नन्दी को देखते हुए दीक्षा समय का अनुमान किया जा सकता है। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि स्थापित ४४ नन्दियों में 'कीर्ति'नन्दी का क्रमांक ४०वाँ है। कीर्ति नामांकित सहजकीर्ति द्वारा सं० १६६१ में रचित सुदर्शन चौपाई, पुण्यकीर्ति द्वारा सं० १६६२ में रचित पुण्यसार रास, विमलकीर्ति द्वारा सं० १६६५ में रचित यशोधर रास आदि कृतियों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'कीर्ति'नन्दी की स्थापना सं० १६५२-५५ के लगभग हुई होगी। अतः मतिकीर्ति का दीक्षाकाल भी यही है।

गुणविनयजी के सहयोग के रूप में इनका उल्लेख सर्वप्रथम सं० १६७१ में मिलता है। 'निशीथचूर्णि' प्रति का संशोधन गुणविनयजी ने मतिकीर्ति की सहायता से किया था। उल्लेख इस प्रकार है :-

“संवत् १६७१ जैसलमेरदुर्गे श्रीजयसोममहोपाध्यायानां शिष्य-

श्रीगुणविनयोपाध्यायैः शोधितं स्वशिष्य-पं० मतिकीर्तिर्कृतसहायकैर्निशीथचूर्णि-
द्वितीयखण्ड । ”

- शाहरुशाह भण्डार, जैसलमेर

सं० १६७३ में प्रणीत ‘प्रश्नोत्तरमालिका’ में तथा सं० १६७४ में रचित
‘तुम्पकमततमेदिनकर चौपाई’ में गुणविनयजी ने मतिकीर्ति का सहायक के
रूप में उल्लेख किया है ।

साहित्य-रचना :

मतिकीर्ति-प्रणीत साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट है कि ये
जैनागमों के प्रौढ विद्वान् थे, शास्त्रीय चर्चा में भी अग्रगण्य थे । व्याकरण-
शास्त्र के भी ये अच्छे अभ्यासी थे, और राजस्थानी भाषा पर भी इनका अच्छा
अधिकार था । इनका साहित्य-सर्जन काल सं० १६७४ से १६९७ के मध्य
का है । इनकी प्रणीत १२ कृतियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नांकित है :-

१. दशाश्रुतस्कथसूत्र-टीका - रचना संवत् १६९७, श्लोक परिमाण-
१८००० । इसकी एक मात्र प्रति जैनशास्त्र-माला-कार्यालय, लुधियाना में प्राप्त
है । महोपाध्याय समयसुन्दरजी ने आपने ‘कथाकोश’ में इसका उद्धरण भी
दिया है । सुना है कि कोई आचार्य महोदय इस टीका का सम्पादन कर रहे
हैं ।

२. निर्युक्तिस्थापन - इसका प्रसिद्ध नाम ‘प्रश्नोत्तरशास्त्र’ है ।
आवश्यकनिर्युक्ति के विसंवादपूर्ण वक्तव्यों को १० प्रश्नों के माध्यम से
आगमों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इसकी रचना संवत्
१६७६ के पश्चात् की गई है ।

३. २१ प्रश्नोत्तर - साधु लखमसी कृत २१ प्रश्नोत्तर के प्रत्युत्तर
दिये गए हैं । गणिपंद का उल्लेख होने से रचना संवत् १६७६ के पश्चात् की
गई है ।

४. भाष्यत्रय-बालावबोध - रचना संवत् १६७७, स्थल जैसलमेर
है । भणसाली-गोत्रीय शाहरुशाह, जैसलमेर के आग्रह से हुई है ।

५. सम्यकत्वकुलक-बालावबोध - इसकी संवत् १६५५ की लिखित
प्रति प्राप्त है ।

६. गुणकित्त्व-घोडशिका - परिचय आगे दिया जाएगा ।

७. अघटकुमार-चौपाई - रचना संवत् १६७४ में जिनसिंहसूरि के राज्य में हुई है ।

८. धर्मबुद्धि-सुबुद्धि-चौपाई - रचना संवत् १६९७, राजनगर ।

९. ललितांग-रास

१०. लुम्पक-मतोत्थापक-गीत - इसमें लोकाशाह के मत का खण्डन किया गया है ।

११. पञ्चकल्याणकस्तव-बालावबोध

१२. सप्तस्मरण-स्तबक

इन कृतियों का परिचय देखें - खरतरगच्छ-साहित्य-कोश ।

गुणकित्त्व-घोडशिका

इसमें मूल श्लोक १६ हैं । गुण और कित्त्व पर विचार होने के कारण गुणकित्त्व-घोडशिका नामकरण किया गया है । इस पर स्वोपन्न टीका है । यह ग्रन्थ व्याकरण शास्त्र से सम्बन्ध रखता है । धातुरूपों में किस अवस्था में कित्त्व या गुण होता है इस पर सम्यक् रीति से विचार किया गया है । फक्तिका स्वरूप इसकी रचना है । टीका में पाणिनि-व्याकरण के सूत्र और धातुपाठ देते हुए इसका सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया है ।

प्रशस्ति में रचना संवत् प्राप्त नहीं है, किन्तु “श्रीजिनसिंहसूरि-विजयिराज्ये” उल्लेख होने से स्पष्ट है कि श्रीजिनसिंहसूरि का साम्राज्यकाल १६७० से १६७४ का है, अतः इसकी रचना भी इसी मध्य में हुई होगी ।

प्रतिलिपिकार :

प्रान्त पुष्पिका में “पं० श्रीजिवकीर्तिगणि-लिखितं” लिखा है । इसमें लेखन-संवत् नहीं दिया है । जीवकीर्ति में ‘कीर्ति’नन्दी को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि मतिकीर्ति के साथ ही इनकी दीक्षा हुई होगी या उसी संवत् के आस-पास हुई होगी । मतिकीर्ति के साथ या उसके पश्चात् दीक्षा होने से यह स्पष्ट है कि ये भी श्रीगुणविनयोपाध्याय के शिष्य थे । इसके द्वारा रचित साहित्य प्राप्त नहीं है, किन्तु गुणविनयोपाध्याय-रचित भाव-

विवेचन, नल-दमयन्ती-प्रबन्ध और मूलदेव-चौपाई की लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं।

इसकी एकमात्र ७ पत्रों की प्रति श्रीखरतरगच्छ ज्ञानभण्डार, शिवजीराम भवन, जयपुर में २०६/५५९ में सुरक्षित है। मैंने इसी प्रति के आधार से सन् १९४५ में प्रतिलिपि की थी। इस भण्डार के अधिकारियों से कई बार अनुरोध करने पर भी यह प्रति पाठमिलान के लिए प्राप्त नहीं हो सकी।

शब्दानुशासन सम्बन्धी यह लघुकाय ग्रन्थ व्याकरण अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा।^१

ठे. प्राकृतभारती,

जयपुर

१. नोट : आ कृति-लेख घणो अशुद्ध हतो। तेमां पूर्ति अने सुधारा तथा टिप्पणो पण आवश्यक हतां। ऐ बधुं कार्य, मूल प्रतना अभावमां घणुं कठिन अने श्रमसाध्य हतुं। वढी, पाणिनीय व्याकरण पर आधारित रचना होवाथी पण घणी महेनत करवी पडे तेम हतुं। ए बधुं श्रमभर्यु काम मुनि त्रैलोक्यमण्डनविजयजीए यथामति-शक्ति करी आप्युं छे, अने ए रीते कृति सम्पादन-कार्यमां तेमणे सिंहफालो आपेल छे, एटलुं वाचको-सम्पादकनी जाण सारु। - शी।

गुणकित्व-षोडशिका

सर्वत्रेको गुणः प्रोक्तो, विद्धिः सार्व(वार्द्ध)धातुके ।
उपधाया लघोरेव, पुगन्तस्याऽलघोरपि ॥१॥

व्याख्या : सर्वत्रेति निर्विशेषणे सार्वार्द्धधातुके इकः- इगन्तस्याऽङ्गस्य
धातोः विद्धिः- शब्दानुशासनरहस्यबोधकैः गुणः प्रोक्तः- कथितः ।^१ अकारै-
कारौकारा भवन्तीत्यर्थः । तत्र ‘तिङ्गशित् सार्वधातुकं’ [३/४/११३] तिङ्गिति
लट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् आशिषिव्यतिरिक्तस्य ग्रहणं, लिङ्-
लृट्यामष्टदशाऽऽदेशा गृह्णन्ते । शितस्त्वमी- शप्, श्लु, श्यन्, श्नु, श, श्नम्,
श्ना, शत्, शानच्, चानश् इति । शेषमार्द्धधातुकं लडादि ।^२ तत्र सार्वधातुके
उदाहरति- तरति, नयति, भवति, एति । आर्द्धधातुके- कर्ता, चेता, स्तोता ।
सार्व[वार्द्ध]धातुके इति किं ? अग्नित्वम् । अग्नित्वमित्यत्र धातोरित्यनधिकृत्य
विहितत्वानाऽऽर्द्धधातुकसञ्चा । अग्निकाम्यति । यदि हि प्रत्यये सतीत्युच्चेत
तदा इहाऽपि स्यात् ।

उपधाया लघोरेवेति उपधाया यदि गुणो भवति तदा लघोरेव ।^३
यथा- भेदनं, छेदनं, तोषणम् । न च भेत्ता, छेतेत्यत्र संयोगे गुरुरिति, गुरुत्वात्
कथं गुण इति शक्यम् ? ‘त्रिसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः’ [३/२/१४०] ‘हलन्ताच्च’
[१/२/१०] ति क्नु-सनोः कित्त्वकरणेन ज्ञापितत्वात्, प्रत्ययादेरङ्गवयवस्य च
हलोरानन्तर्यत्वे सत्यपि लघूपधायां गुणो न व्यावर्त्यत इति । यदि गुरुत्वादेव
गुणो न स्यात् तदा कित्करणमनर्थकमेव स्यात् ।

पुगन्तस्याऽलघोरपीति दीर्घस्याऽपि गुणो भवति । यथा- श्लेपयति,
ह्रेपयति, क्नोपयति ॥१॥

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोः - ७/३/८४

२. आर्धधातुकं शेषः - ३/४/११४

३. पुगन्तलघूपधस्य च - ७/३/८६

तथाऽन्त्यस्याऽज्ञिति प्रोक्तो-अविचिण्णलृडित्सु जागरेः ।
अभ्यस्तस्योपधाया नो, अचि पित्सार्वधातुके ॥२॥

व्याख्या : अन्त्यस्य- अवसानवर्त्तिः इकस्तथेति ह्रस्वस्य दीर्घस्य
च गुणो अज्ञिति प्रोक्त इति, जिति णिति प्रत्यये गुणो न भवति, तत्र वृद्ध्या
तस्य बाधितत्वात् ।^१

अविचिण्णलृडित्सु जागरे इति जागृ इत्यस्याऽङ्गस्य गुणो भवति
अविचिण्णलृडित्सु परतः ।^२ इदं बाधकबाधनार्थं, न क्रिडती[१/२/५]त्यस्य
जिति णिति परेऽन्त्यवृद्धेश्च बाधनार्थमित्यर्थः । तथा च जागरयति, जागरकः,
साधु जागरी, जागरं जागरं, जागरो(घञ)वर्तते इत्यादौ वृद्ध्या न बाधः । कृते
च गुणे ‘अत उपधाया’ [७/२/११६] इति वृद्धिः प्राप्नोति सा न भवति ।
यदि हि स्यादनर्थक एव गुणस्याच्चिण्णलोश्च प्रतिषेधवचनमनर्थकम् ।
विचिण्णलृडित्सु यथाप्राप्तं कृगृजागृभ्यः किवनः कित्वाद् गुणाभावो- जागृविः,
चिण्- अजागारि, णल्- जजागर, अत्रोभयत्र वृद्धिः, डित्- जागृतः, जागृथः,
डित्वाद् गुणाभावः । वीति केचिदिकारं उच्चारणार्थं वर्णयन्ति, तेन क्वसावपि
वक्करादौ गुणो न भवति- जजागृवान् । येषां तु नोच्चारणार्थस्तन्मते- जजागर्वानिति
रूपम् । अजागरः, अहं जजागर इत्यत्र गुणस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति, नाऽप्रतिषेधात् ।
अविचिण्णलृडित्सु इति पर्युदासोऽयम् । ततशाऽयमर्थः- विचिण्णलृडि-व्यतिरिक्ते
प्रत्यये गुणो भवति । विनादौ तु न विधिर्न प्रतिषेधः न गुणानुजा । यदि केनापि
प्राप्नोति तदा प्राप्नोत्येव । तेन जुसि चेति [७/३/८३] गुणोऽजागरुत्यत्र ।
एलि तु णिद्भावपक्षे ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ [७/३/८४] इति गुणस्तेन
जजागरेति सिद्धम् । अथवा जाग्र इति या प्राप्तिरसावानन्तर्याद् विचिण्णलृडित्सु
इति प्रतिषिध्यते । कित्यप्राप्तं प्राप्यः(प्य) प्राप्तं प्रतिषेधयति ।

अभ्यस्तस्येति अभ्यस्तसंज्ञकस्याऽङ्गस्य उपधाया इक इउऋलृनां
[अचि] इत्यजादौ पिति सार्वधातुके नो इति गुणाभावः गुणो न भवतीत्यर्थः ।^३
नेनिजानि, अनेनिं, वेविजानि, अवेविजं, परिवेविषाणि, पर्यवेविषम् ।
अभ्यस्तस्येति किं? वेदानि । अचीति किं? नेनेक्ति । पिदग्रहणमुत्तरार्थम् ।

१. अचो ज्ञिति - ७/२/११५

२. जाग्रोऽविचिण्णलृडित्सु - ७/३/८५

३. नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके - ७/३/८७

सार्वधातुक इति किं ? निनेजः । उपधाया इति किं ? जुहवानि, अजुहवम् ।
बहुलं छन्दसीति वक्तव्यं, जुजोषदिति यथा स्यात् ॥२॥

भूसुवोस्तिड्युतो वृद्धि-लुकि हलि सार्वधातुके ।
विभाषोणोर्गुणोऽपृक्ते, न किडति वचनाऽपि हि ॥३॥

व्याख्या : भूसुवोस्तिडि इति । नो इति वर्तते । ततश्चाऽयमर्थः-
भूसुवो इत्येतयोः तिडि सार्वधातुके गुणो न भवति ।^३ अभूत्, अभूः, अभूवं,
सुवै, सुवावहै, सुवामहै । सूतेलुगिवकरणस्येदं ग्रहणं, सुवति-सूवत्योविकरणेन
तिडे व्यवधानात् । विकरणस्यैव च डित्त्वाद् गुणाभावः सिद्धः । तिड्ग्रहणं
विकरणव्युदासार्थं, तेन तत्र गुणो भवत्येव यथा भवति । सार्वधातुक इत्येव-
व्यतिभविषीष्ट । लिङ्गाशिषीत्याद्विधातुकसंज्ञत्वाद् गुणो वृत्तः । अथ बोभवीति
यड्लुकि गुणप्रतिषेधः कस्मात् न भवति, ज्ञापकाद्, यदयं बोभूत्विति गुणाभावार्थं
निपातनं करोति ।^३ यदि यड्लुक्यपीदं भूसुवोस्तिडीति प्रावर्तिष्यत् तदा गुणाभावार्थं
बोभूत्विति निपातनं नाऽकरिष्यत्, ततु कृतं तेन यड्लुकि गुणः सिद्धः ।
प्राप्तमेव प्रतिषिध्यत इति वचनाद् नाऽभ्यस्तस्येत्यनुवर्त्तनाद्वाऽभ्यस्तस्य न
गुणप्रतिषेधः ।

उतो वृद्धिलुकि हलीति [७/३/१८९] । पितीत्यनुवर्तते । इदमपि
प्राप्तगुणे प्रतिषेधार्थम् । उकारान्तस्याऽङ्गस्य वृद्धिर्भवति लुकि सति हलादौ पिति
सार्वधातुके । यौति, यौषि, यौमि, नौति, नौषि, नौमि, स्तौति, स्तौषि, स्तौमि ।
उत इति किं ? एति, एषि, एमि । लुकि इति किं ? सुनोति, सुनोषि, सुनोमि ।
हलीति किं ? यवानि, रवाणि । पितीत्येव- युतः, रुतः । अपि स्तुयाद्राजानं
इत्यत्र हि डित् पिन भवति, पिच्च डिन्न भवतीति प्रतिषेधाद् वृद्धेरभावः ।
अत्राऽयं भावस्तिपः पित्त्वाद् वृद्धौ प्राप्तायां यासुटो डित्त्वेन सा प्रतिषिध्यते ।^३
ननु लिडो डित्त्वात् तदादेशेषु स्थानिवद्वावेन तिडां डित्त्वादेव वृद्धेरभावः
सिद्धस्तत्किमर्थमिदमुच्यते ? मैवं, यासुट एव डित्करणात् ज्ञायते लाश्रितं डिन्वं
लादेशेषु न प्रवर्तते । यदि हि समुदाये ‘स्थानिवद्’ [१/४/१६] भावेन
डित्कार्यमभविष्यत् तदा यासुटो डित्त्वं न व्यधास्यत् । विहितं च तत् ज्ञापयति

१. भूसुवोस्तिडि - ७/३/८८

२. दाधर्ति-दर्धर्ष-बोभूत० - ७/४/६५

३. यासुट् परस्मैपदेषूदातो डित्त्व - ३/४/१०३

डिति यत् कार्यं तल्लादेशेषु न भवतीति डितो यत् कार्यं 'नित्यं डित' [३/४/९९] 'इतश्च' [३/४/१००] त्यादिकं तद् भवत्येव । नाभ्यस्तस्येति एतदिहानुवर्तते, योयोति, नोनोति इत्येवमाद्यर्थम् ।

विभाषोणोरिति^१ वृद्धिरित्यनुवर्तते हलादौ पिति सार्वधातुके लुकि इति च । ततश्च हलादौ पिति सार्वधातुके लुकि सति ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिर्भवतीत्यर्थः । प्रोर्णोति, प्रोर्णोति, प्रोर्णोषि, प्रोर्णोषि, प्रोर्णोमि, प्रोर्णोमि । हलीत्येव- प्रार्णवानि ।

गुणोऽपृक्ते इति [७/३/९१] ऊर्णोतेर्द्वातोरपृक्ते पिति हलि सार्वधातुके गुणो भवति । प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः । हलीत्यनुवर्तमाने यत् पृक्तग्रहणं क्रियते तेन तज्जाप्यते, भवत्येषा परिभाषा यस्मिन् विधिस्तदादावलग्रहणे इति पूर्वेण विभाषाबाधे नित्यार्थमिदम् ।

न किङ्गति क्वचनाऽपि हीति । किङ्गतीति निमित्तसप्तम्येषा, किङ्गनिमित्तो यो गुणः प्राप्नोति स न भवति ।^२ चितं, चितवान्, स्तुतं, स्तुतवान् । डिति खल्वपि^३- चिनुतः, चिन्वन्ति । गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते । 'ग्लाजिस्थश्च मसुः' [३/२/१३९], जिष्णुः ॥३॥

विहायैतान् वक्ष्यमाणान्, जुसीगन्तं मिदि शिति ।

तथा उन्नदृशं लिटि च, संयोगादिमृतं तथा ॥४॥

व्याख्या : विहायैतान् वक्ष्यमाणानिति । योऽयं 'न डङ्गती'ति निषेधः सः वक्ष्यमाणानपवादान् विहाय- परित्यज्य । तानेवाऽऽह-

जुसीगन्तमिति । जुसि प्रत्यये परतः इग्नतमङ्गं विहाय, तस्मिन् गुणो भवतीत्यर्थः ।^४ अजुहवुः, अबिभयुः, अबिभरुः । अथ विनुयुः, सुनुयुरित्यत्र कस्मान् भवति, अत्र द्वे डित्त्वे सार्वधातुकाश्रयं यासुडाश्रयं च । तत्र नाऽप्राप्ते सार्वधातुकाश्रयडित्त्वनिमित्ते प्रतिषेधे जुसि गुणः आरभ्यमाणस्तमेव बाधते । यासुडाश्रयडित्त्वनिमित्तं तु न बाधते, तत्र हि प्राप्ते चाऽप्राप्ते चाऽऽरभ्यत इति ।

मिदि शितीति मिदि- मेद्यति शिति प्रत्यये विहाय । तत्र हि शिति प्रत्यये परतो मिदेरङ्गस्येको गुणो भवति ।^५ यथा- मेद्यतिः, मेद्यन्ति । शितीत्येव-

१. ऊर्णोतेर्विभाषा - ७/३/९० 2. किङ्गति च - १/१/५

३. खल्वपीति समस्तमव्ययं यथार्थे - ह.टि. ४. जुसि च - ७/३/८३

५. मिदेर्गुणः - ७/३/८२

मिद्यते । तथा छृदृशमिति । अडिवात्(डि)ऋवर्णन्तं दृशं च विहायेति सम्बन्धः ।^१ तत्र न डिक्तीति न प्रवर्त्तते इत्यर्थः, किन्तु ऋवर्णन्तानां दृशेश्वाऽपि डिपरतो गुणो भवतीत्यर्थः । शकलाङ्गुष्टकोऽकरत् अहं तेष्योऽकरं नमः (?)। असरत्, आरत्, जरा । दृशेः- अदर्शत्, अदर्शतां, अदर्शनिति ।

लिटि च संयोगादिमृतं तथेति । लिटि च परोक्षे संयोगादिसंयुक्तादिमृतं- ऋकारान्ताङ्गमपहाय न डिक्तीति निषेधः प्रवर्त्तते । तत्र तु 'ऋतश्च संयोगादेगुणः' [७/४/१०] इति गुणो भवति । यथा- स्वृ शब्दोपतापयोः [पाणि. धा. ९९८]- सस्वरतुः, सस्वरुः । धृ कौटिल्ये [पाणि धा. १००५]- दध्वरतुः, दध्वरुः । स्मृ स्मरणे [पाणि धा. ८५९]- सस्मरतुः, सस्मरुः । ऋत इति किं ? चिक्षियतुः, चिक्षियुः । संयोगादेरिति किं ? चक्रतुः, चक्रुः । वृद्धिविषये तु वृद्धिरेव भवति । विप्रतिषेधेन संयोगोपधस्याऽपि लिटि गुणो भवतीति विज्ञेयं- संचस्करतुः, संचस्करुः । अत्र हि पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपनतोपसर्गेणत्यत्र दर्शने लिटि कृते तदाश्रये च द्विवर्चने पश्चादुपसर्गयोगे सत्यदृश्यासव्यवायेऽपीति [पाणि. वा. २५३९] सुडिह क्रियते । एवंकृत्वा संस्कृषीष्टेत्यत्र सुटो बहिरङ्गलक्षणस्याऽसिद्धत्वात् 'ऋतश्च संयोगादे'रिति [७/२/४३] इडागमो न भवति ॥४॥

ऋच्छत्यृतश्च याद्येषु, लिङ्-यड्यक्षुपरेषु च ।

संयोगादिं तथाऽर्ति च, दिधीवेव्योरिटश्च न ॥५॥

व्याख्या : ऋच्छत्यृतश्चेतान् विहायेति प्राग्वत् । चकारेण लिटीत्यनुकृष्टते । ततश्च लिटि परोक्षे ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ-इत्येतस्य ऋकारान्तानां च गुणो भवतीत्यर्थः ।^२ ऋच्छ- आनच्छ, आनच्छतुः, आनच्छुः । ऋ- आर, आरतुः, आरुः । ऋकारान्तानां- कृ विक्षेपे [पाणि. धा. १५०२]- निचकरतुः, निचकरुः । गृ निगरणे [पाणि. धा. १५०३]- निजगरतुः, निजगरुः । ऋच्छेरलघूपधत्वात् सर्वथाऽप्राप्तो गुणो विधीयते । ऋतां तु न डिक्तीति प्रतिषेधे । वृद्धिविषये पूर्वविप्रतिषेधेन वृद्धिरेवेष्यते- निजगर ।

याद्येषु लिङ्-यड्यक्षु परेषु च संयोगादिं तथाऽर्ति चेति च- पुनः याद्येषु लिङ्-यड्यक्षु परेषु संयोगादिं तथाऽर्ति च परित्यज्य न डिक्तीति

१. ऋदृशोऽडिं गुणः - ७/४/१६

२. ऋच्छत्यृताम् - ७/४/११

प्रतिषेधः प्रवर्तते इति सण्टङ्कः । अर्तेः संयोगादेश ऋतः निषेधं प्रतिषिध्य गुणो भवतीत्यर्थः ।^१ लिङ्गीति आशीषिविहितलिङ्गदेशा आर्धधातुकसंज्ञका गृह्णन्ते । लिङ्गि- अर्यात् । संस्क्रियते, संस्क्रियात् । इह सुटो बहिरङ्गलक्षणस्याऽसिद्धत्वात् अभक्तत्वाद् वा संयोगादित्वं नाऽस्तीत्यङ्गस्य गुणो न प्रवर्तते । यडि- अरार्थते, सास्वर्यते, दीर्घर्थते, सास्मर्यते । अर्तेरडयर्त्थशृणोतीनामुपसंख्यानामिति यङ्गनन्द्राः संयोगादय इति द्विर्वचनप्रतिषेधो यकारपरस्य नेष्यते इति (?) । यकि- अर्थते, स्मर्यते । यादेष्विति संभवाद् व्यभिचाराच्च विशेषणं भवतीति । लिङ्गो व्यभिचाराद् विशेषणम्, आत्मनेपदे सीष्टादौ लिङ्गदेशत्वेऽपि यादित्वाभावाद् गुणो न प्रवर्तते । यङ्ग्यकोः संभवाद् विशेषणं, व्यभिचाराभावात् ।

न ङ्कितीत्यस्याऽपवादाः- दीधीवेव्योरिटश्च नेति । दीधीङ्ग दीप्तिदेवनयोः [पाणि धा. ११५२] वेवीङ्ग वेतिना तुल्ये [पाणि धा. ११५३] । इट'शाऽऽर्धधातुकस्येऽवलादेः' [७/२/३५] इत्यादिना प्रकरणेन विहित आगमस्तस्य च गुणवृद्धी न भवति(तः), निमित्तानुपादानात् सर्वत्रैति भावः ।^२ वृद्धिरितो न संभवति, [परं] यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गमिति परिभाषया इटोऽप्यङ्गेऽन्तर्भावात् अकारिषमित्यादौ लघूपधगुणः प्राप्तः, सोऽनेन प्रतिषिध्यते । श्वः कणिता, श्वो रणितेत्यादावन्त्यस्य गुणे प्राप्ते निषेधः । आदीध्यनं, आदीध्यकः, आवेष्यनं, आवेष्यकः । गुणवृद्ध्योरभावादेरनेकाचोऽङ्गस्य यण् ।^३ 'इको गुणवृद्धी' [१/१/३] इत्यतो गुणवृद्धीति पदमनुवर्तते ॥५॥

सर्वत्र न धातुलोपे, स^४ भवेदार्धधातुके ।

परस्मैपदे सिचीगन्ते, वृद्धिर्भवति बाधिका ॥६॥

व्याख्या :- ते इति गुणवृद्धी सर्वत्र धातुलोपे आर्धधातुके- तिङ्गशिद्व्यतिरिक्ते प्रत्यये न भवेत्, निमित्ते सत्यपि । किंतु व्यतिरिक्ते सार्व-धातुकार्धधातुकप्रत्यये निमित्तं, तस्मिन् सत्यपि तद्विधायकं सूत्रं न प्रवर्तते इत्यर्थः । धातुलोप इति अवयवे समुदायोपचाराद् धात्वेकदेशो धातुस्तस्य लोपो

१. गुणोऽनिःसंयोगाद्योः - ७।४।२९

२. दीधीवेवीटाम् - १।१।६

३. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य - ६।४।८२

४. टीकायां 'स' स्थाने 'ते' इति प्रतीकोपादानम्, पुनः तत्सम्बन्धि क्रियापदं 'भवेत्' इत्येव निर्दिष्टमित्यसमञ्जसता कथं समाधेयेति विद्वद्विश्वित्तनीयम् ।

यस्मिन्नार्द्धधातुके तदार्धधातुकं धातुलोपं, तत्र ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवति इति गर्भार्थः ।^१ यथा- लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः । लोलूयादिभ्यो यडन्तेभ्यः पचाद्यचि विहिते यडोऽचि च [२/४/७४] इति यडलुकि कृते तमेवाऽचमाश्रित्य ये गुणवृद्धी प्राप्ते तयोः प्रतिषेधः । धातुग्रहणं किं ? लूज्, अनुबन्धलोपे भवत्येव, यथा- लविता । धातुग्रहणादेव प्रत्ययलोपे भवत्येव । यथा- रेट्, रिषे हिंसार्थस्य [पाणि. धा. ७३९] । विच्प्रत्ययलोपे उदाहरणम् । आर्धधातुकग्रहणात् सार्वधातुके भवत्येव । यथा- बोभोति, वरीवर्ति । इक इत्येव- अन्यत्र पापाचकः, अभाजि, रागः । पापाचक इत्यत्र यडो धात्ववयवस्य लोपे; अभाजि, राग इत्यत्र अनुस्वारस्य धात्ववयवस्य लोपेऽपि इग्लक्षणवृद्धेरभावा'दत उपधाया' इति [७/२/११६] वृद्धिर्भवत्येव ।

परस्मैपदे सिचीगन्ते वृद्धिर्भवति बाधिका इति परस्मैपदे सिचि परतः इगन्ताङ्गे वृद्धिर्बाधिका भवति अर्थाद् गुणस्य ।^२ अवैषीत्, अनैषीत्, अलावीत्, अवावीत्, अकार्षीत् । अन्तरङ्गमपि गुणमेषा वृद्धिर्जपकत्वाद् बाधत इत्यर्थः । अन्तरङ्गत्वं पुनर्गुणस्याऽऽर्द्धधातुकमात्रापेक्षत्वात् । वृद्धेस्तु आर्धधातुकविशेष-परस्मैपदपर-सिचमपेक्षमाणाया बहिरङ्गत्वं च । ज्ञापकं त्विदम्- यद्यन्तरङ्गे गुणो वृद्धेः प्राक् प्रवर्तते तदा सर्वत्राऽयादेशे कृते यान्तत्वादेव 'हम्यन्तक्षणे'ति [७/२/५] वृद्धिनिषेधे सिद्धे, तत्रैव णिश्च-ग्रहणं न कुर्यात्, ततु कृतं, तत्करणाज्ञायते अन्तरङ्गमपि गुणं वृद्धिर्बाधत इति । परस्मैपद इति किं ? अच्योष्ट, अश्लोष्ट । इगन्त इति किं ? अदेवीत्, असेवीत् । इगुपधस्य गुणो भवत्येव ॥६॥

जागृणिश्वीन् विहायैवा-उनिटां चैवाऽविशेषतः ।
बाधते वृद्धिरत्यन्तं, मृजेवृद्धिर्गुणाद् भवेत् ॥७॥

व्याख्या : जागृणिश्वीन् विहायैवेति एतान् परित्यज्य वृद्धिर्बाधिका भवति, एतेषु गुण एव भवतीत्यर्थः । जागृ- अजागरीत् । अत्र जागृ-ई इति स्थिते पूर्वं यण् प्राप्तस्तं सार्वधातुकगुणो बाधते, तं सिचि वृद्धिस्तां जागर्ति गुणस्तत्र कृते हलन्तलक्षणा वृद्धिः । अङ्गवृत्त इत्येततु निष्ठितत्वाच्च दुर्ज्ञानत्वादनाश्रित्य यदि, तर्हि गुणे रपरत्वे च कृति लक्षणान्तरेण वृद्धिर्भवति तदा जागरक इत्यादावजन्तलक्षणां वृद्धिं बाधित्वा गुणे प्रवृत्ते रपरत्वे च 'अत

१. न धातुलोप आर्धधातुके - १/१/४ २. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु - ७/२/१

उपधाया' [७/२/११६] इति वृद्धिः प्राजोति, नैष दोषः, चिण्णमुलोर्गुण-
प्रतिषेधालिलङ्गदुपधालक्षणवृद्धिर्न भवति इत्यवसीयते । अन्यथा चिण्णमुलोः
गुणरपरत्वयोः कृतयोरुपधालक्षणया वृद्ध्या सिध्यति रूपमिति प्रतिषेधं न
विदध्यात् ।^१ 'यदि तु गुणे कृते वृद्धिमात्राप्रवृत्ते लिङ्गं चेण्णमुलोः प्रतिषेध
आश्रीयते तदा जागृग्रहणं शक्यमर्क्तुं, सो 'नेटि' इत्यनेन [७/२/४] प्रतिषिध्यते
तस्यां च प्रतिषिद्धायां 'अतो हलादे'रिति [७/२/७] विकल्पः प्राजोति, तमपि
बाधित्वा'दतो ल्लान्तस्ये'ति [७/२/२] नित्या वृद्धिः । तां बाधितुं जागृणिश्ची[ति]
जागृग्रहणम् । तथोक्तम्-

"गुणोवृद्धिर्गुणे वृद्धिः, प्रतिषेधो विकल्पनम् ।

पुनर्वृद्धिर्निषेधोऽतो, यण्पूर्वाः प्रासयो न वा ॥"

किंत्यचि मृजेर्वृद्धिर्वेष्यते^२, तेन मृजन्ति, मार्जन्तीति रूपद्वयसिद्धिः,
सा तु गुण(ण)विषयकत्वानोक्ता । णि- ऊनयीत्, एलयीत् । श्वि- अश्वयीत् ।

अनिटां चैवाऽविशेषतः बाधते वृद्धिरत्यन्तमिति च पुनरनिटां धातूनां
अविशेषत एव सामान्यत एव अन्ते उपधायां चेत्यर्थः, अत्यन्तमपवादराहित्येन
वृद्धिर्बाधते ।^३ अकार्षीत्, अहार्षीत्, अभैत्सीत्, अच्छैत्सीदिति ।^४

मृजेर्वृद्धिः [७/२/११४] गुणाद् भवेत् इति गुणाद् गुणनिमित्ताद्
गुणकारणात् किंद्रुर्जसार्वधातुकार्द्धधातुकादिति, यावदर्थाद् गुणं बाधित्वा वृद्धिर्भवति
निरवकाशत्वात् । मार्षी, मार्षीव्यं, परिमार्षि ॥७॥

तथैव शीडः सर्वत्र, गुणः स्यात् सार्वधातुके ।

सिच् ऊ(च्यू)र्णोत्तर्विकल्पेन, गुणस्य विषयस्त्वयम् ॥८॥

व्याख्या :- तथैव शीडः सर्वत्र गुणः स्यात् सार्वधातुके इति
शीडः सर्वत्र सार्वधातुके गुणस्यात् ।^५ सर्वत्रग्रहणं न किंतीति निषेधबाधनार्थम्,
तेन तत्रापि गुणो भवतीत्यर्थः । शेते, शयाते, शेरते । सार्वधातुक इति किं ?

१. चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम् - ६/४/९३

२. मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते - वा० ।

३. 'नेटि' [७/२/४] इत्यनेन सूचितमिदम् ।

४. सिचि वृद्धिं - ७/२/१, वदन्रजहलन्तस्याऽचः - ७/२/३

५. शीडः सार्वधातुके गुणः - ७/१/२१

शिश्ये । लिडादेशानां तिङ्गशितां ‘लिङ्गचे’ति [३/३/१५९] सूत्रेणाऽऽर्द्धधातु-कत्वप्रतिपादनात् प्रत्युदाहरणम् ।

सिचीति ऊर्णोंते: इडादौ सिचि परस्मैपदे परे परतो विकल्पेन गुणो भवति ।^१ प्रौर्णवीत् । पक्षे वृद्धिः- प्रौर्णवीत् । ‘विभाषोर्णोः’ [१/२/३] इत्यडित्वपक्षे वृद्धिविकल्पोऽयम् । डित्वपक्षे तु गुणवृद्ध्योरभावे तु उवङ् भवति- प्रौर्णवीत् । अयं- पूर्वोक्तो गुणस्य विषयः - गोचरं, प्रोक्तः इति गम्यते, तुः पादपूर्तो ॥८॥

कुटादिभ्योऽज्ञितः सर्वे, गाडश्चाऽपि डितः स्मृताः ।

विज इद् विभाषोर्णोंते-स्तथाऽपित् सार्वधातुकम् ॥९॥

व्याख्या : कुटादिभ्योऽज्ञितः सर्वे गाडश्चापि डित स्मृता इति । गुणप्रतिषेधविषये ‘न किडति क्वचनाऽपिही’त्युक्तम् । तत्रौपदेशिकस्य सुखाभिगम्यत्वादातिदेशिकं डित्वं दर्शयन्नाह- कुट कौटिल्ये [पाणि. धा. १४५४] इत्यत आरभ्य यावत् कुङ् शब्दे [पाणि. धा. १४९३] एते कुटादयो गृह्णन्ते, तेभ्यस्तथा गाडः इति डक्कारस्याऽनन्यार्थत्वादिडादेशो गृह्णते, न गां गता [पाणि. धा. १०१६] इति धातुः, तस्माच्च मे(परे)ऽज्ञितो जिणि-तद्व्यतिरिक्ताः सर्वे समस्ताः प्रत्यया डितः स्मृता इति डिद्वद् भवन्तीत्यर्थः ।^२ कथं पुनरन्तरेण वर्तिवत्यर्थो गम्यते ? उच्यते- अन्तरेणाऽपि वर्ति- वत्यर्थो गम्यते । यथा- सिंहो माणवकः, यथा वा अब्रह्यदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह (इत्युक्ते) ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति प्रतीयते, एवमिहाऽपि अडितं डिदित्याह, डिद्वद्ववतीति गम्यते । कुटादिभ्यः- कुटिता, कुटितुं, कुटितव्यम् । गाडः- अध्यगीष्ट, अध्यगीषातां, अध्यगीषत् । अज्ञित इति किं ? उत्कोटयति, उत्कोटकः, उत्कोटो वर्तते । व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यं[वा०]- विचिता; विचितुं, विचितव्यम् । अनसीति किं ? उरव्यचाः ।

विज इडिति । ओविजी भयचलनयोरस्मात् पर इडादिप्रत्ययो डिद् भवति ।^३ उद्विजिता, उद्विजितुं, उद्विजितव्यम् । इडिति किं ? उद्वेजनीयम् । **विभाषोर्णोंतेरिति ।** इडित्यनुवर्त्तते । ऊर्णज् आच्छादने [पाणि. धा.

१. ऊर्णोंतेरिभाषा - ७/२/६

२. गाङ्गुटादिभ्योऽज्ञिन्दित् - १/२/१

३. विज इट् - १/२/२

११४] अस्मात् पर इडादिप्रत्ययो विभाषा- विकल्पेन डिद्धवति ।^३ प्रोर्णविता, प्रोर्णविता । इडित्येव- प्रोर्णवनं, प्रोर्णवनीयम् ।

तथाऽपित् सार्वधातुकमिति तथा अपित् सार्वधातुकं डिद्धद् भवति ।^२ इडिति निवृत्तम् । कुरुतः, कुर्वन्ति, चिनुतः, चिन्वन्ति । सार्वधातुकमिति किं ? कर्ता, कर्तु, कर्तव्यम् । अपिदिति किं ? करोति, करोषि, करोमि ॥१॥

लिङ् वाऽसंयोगतः कित् स्यात्, तथेधेर्भवतेः परः ।

क्त्वा मृडादिगणात् सेटको, रुदादिभ्यः सना युतः ॥१०॥

व्याख्या : लिङ् वाऽसंयोगतः कित् स्यादिति वा-शब्द एवकारार्थः । असंयोगत एव- असंयोगादेव धातोः परो लिट्प्रत्ययः अपित् किद् भवति ।^३ बिभिदतुः, बिभिदुः, चिच्छिदतुः, चिच्छिदुः, ईजतुः, ईजुः । असंयोगादिति किं ? ससंसे, दध्वंसे । केचितु संयोगाल्लिटः कित्वं विकल्पयन्ति । तन्मते- ममथतुः, ममथुः ममन्थतुः, ममन्थुः । अपिदित्येव- बिभेदिथ । पूर्ववदत्राऽपि वतिमन्तरेणाऽपि वत्यर्थो गम्यते ।

तथेधेर्भवतेः पर इति । तथा इधेर्भवतेश्च परे लिट्प्रत्ययः किद् भवति ।^४ समीधे दस्युहतमम् । पुत्र ईधे अर्थवणः । भवतेः खल्वपि- बभूव, बभूविथ । इन्धेः संयोगार्थ ग्रहणम्, भवतेः पिदर्थ, तेन बभूवेत्यत्राऽतिदेशि- ककित्वेन स्वनिमित्तौपदेशिकणित्वस्योपहतत्वाद् वृद्धिसूत्रं न प्रवर्तते । गुणस्त्व- विशेषविहितत्वेन तत्रापि प्रवर्तते एवेति तन्निवृत्तिर्न किडतीतित्यनेन ।

यतु कृष्णपण्डितेन- “ननु इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः किडति चेति निषेध इत्युकं, तत्कथमज्जलक्षणाया वृद्धेर्निषेधः ? न च कित्ववैयर्थ्य, थलि उत्तमे णलि च गुणनिषेधार्थत्वेनोपपत्तेः, सत्यं, कित् डिदित्युभयमत्राऽनुवर्तते । तत्र कित्वेनैव सिद्धे डित्त्वयिधेरज्जलक्षणाया अपि निषेधो भवती”त्युकं ततु न सम्यक् प्रतिभाति, कित्वेन णित्वबाधात् किति तु विधिसूत्राभावादेव वृद्धेरभावस्ततो न किडतीति सूत्रेण तत्प्रतिषेधविधानं व्यर्थमेव । यदि विधायकसूत्राभावेऽपि वृद्धेः प्रतिषेधः क्रियेत, तदा भवतीत्यादौ पित्यपि प्रसजन्ती वृद्धिः कथं वार्या स्यात् ? कित् डिदित्युभयमनुवर्तते इति यदुकं, तदपि न, अधिकारान्तरेणा-

१. विभाषोर्णोः - १/२/३

२. सार्वधातुकमित् - १/२/४

३. असंयोगाल्लिट् कित् - १/२/५

४. इन्धिभवतिभ्यां च - १/२/६

ऽधिकारस्य बाध इति किदधिकारेण डिदधिकारस्य बाधितत्वात् । उभयानुवृत्तौ हि वचिस्वपियजादीनां जागर्तेश संप्रसारणगुणयोर्विकल्पः प्रसज्येत ।

ननु कृताकृतप्रसङ्गत्वेन नित्यत्वाद् वुगेव गुणवृद्धी बाधिष्यते तत् किं कित्वेन प्रतिषेधार्थेन ? न च कृतयोर्गुणवृद्ध्योरेजन्तस्य प्राप्नोत्यकृतयोस्तूदन्तस्येति शब्दान्तरप्राप्त्या वुकोऽनित्यत्वम् । एकदेश विकृतस्याऽनन्यत्वेन शब्दान्तर-प्राप्त्यभावात् । सत्यं, तदेतद् वार्तिककारस्य मतम् । यदाह- ‘इन्धेः छन्दो-विषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्, ताभ्यां लिटः किद्वचनानर्थक्यमिति । सूत्रकारस्तु मन्यते वुगनित्य इति । तद्विधौ हि ‘ओः सुपि’ [६/४/८३] इत्यतः ओरित्यनुवर्तते । उवर्णान्तस्य भुवो वुग् यथा स्यात्, बोभावेति यडि लुकि मा भूदिति । तत्र हि इन्धिभवतिभ्यां च इति शितपा निर्देशेन कित्वं व्यावर्त्यते, तेन वृद्धिरेव भवति । एवं च यथा तत्राऽनुवर्णान्तत्वाद् वुग् न भवति, एवं बभूवेत्यत्रापि वृद्धौ कृतायां न प्राप्नोतीत्यनित्यो वुक् परया वृद्ध्या मा बाधीत्यारम्भणीयं कित्वम् । एष एव च कित्वे शितपा निर्देशं लुकि च तदभावं कुर्वतः सूत्रकृतोऽभिप्रायः । अत्रेष्टः(त्र)श्रिथिग्रन्थिदम्भस्वज्ञीनामिति वक्तव्यम् (वा०) । ग्रेथतुः, ग्रेथुः, देभतुः, देभुः, परिषस्वजे, परिषस्वजाते ।

क्त्वा मृडादिगणात् सेट्क इति । मृड मृद् गुध् कुष् क्लिश् वद् वस् एते मृडादयः । एभ्यः परः सेट्क्त्वाप्रत्ययः किद्वति ।^१ ‘न क्त्वा सेडि’ति [१/२/१८] प्रतिषेधं वक्ष्यति, तस्याऽयं पुरस्तादपकर्षः, अपवाद इति यावत् । गुधकुषक्लिशानां तु ‘रलो व्युपधा’दिति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । मृडित्वा, मृदित्वा, गुधित्वा, कुषित्वा, क्लिशित्वा ।

रुदादिभ्यः सना युतः इति । रुदादिभ्य इति रुदादिगणात्, रुद् विद् मुष् ग्रहि स्वपि प्रच्छ इत्येतेभ्यः सना युतः क्त्वा, सन् प्रत्ययेन सहितः क्त्वाप्रत्ययः किद्वति ।^२ रुदविदमुषाणां ‘रलो व्युपधा’दिति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनं ग्रहे विध्यर्थमेव, स्वपिपृच्छ्योः सनर्थं ग्रहणं, किदेव हि क्त्वा । रुदित्वा, रुदिष्टते, विदित्वा, विविदिष्टते, मुषित्वा, मुमुषिषति, गृहीत्वा, जिघृक्षति, सुप्त्वा, सुषुप्तिति, पृष्ठ्वा, पिपृच्छिषति । ग्रहादीनां कित्वात् संप्रसारणं भवति ।^३ ‘किरश्च पञ्चभ्यः’ [७/२/७५] इति पृच्छेरिडागमः ।

१. मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा - १/२/७

२. रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च - १/२/८

३. ग्रहिज्यावयिव्यधिं - ६/१/१६

इगन्तादिगुपान्त्याच्च, झलादिसन् किदिष्यते ।
झलादी लिङ्गसिचावात्म-नेपदेष्विगुपान्त्यतः ॥११॥

व्याख्या : इगन्तादिगुपान्त्याच्च झलादिः सन् किदिष्यते इति ।
सन्ग्रहणात् कृवेति निवृत्तम् । चिकीर्षति, जिहीर्षति । इगन्तादिति किं ?
पिपासति, तिष्ठासति । कित्वाभावाद् घुमास्थेतीत्वाभावः [६/४/६६] । झलादिरिति
किं ? शिशयिषते । इगुपान्त्याद् बिभित्सति, बुभुत्सते । इगुपान्त्यादित्येव-
यियक्षति । अकित्वात् संप्रसारणाभावः । झलादीत्येव- विवर्द्धिषते । इटा
व्यवहितत्वात् सनो न कित्चं, तेनोपधागुणः । पाणिनीयसूत्रापेक्षया हल्-
ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धं- धिष्टति ।

झलादी लिङ्गसिचावात्मनेपदेष्विगुपान्त्यत इति । इक उपान्त्यन्तस्थ-
समीपे यस्य स इगुपान्त्यः- इगुपध इत्यर्थः । तस्मात् परौ झलादी लिङ्गसिचौ
आत्मनेपदेषु परतः कितौ भवतः ।^१ भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट । सिचि खल्वपि-
अभित्त, अबुद्ध । इगुपान्त्य इति किं ? यक्षीष्ट, अयष्ट । अकित्वात् संप्रसारणा-
भावः । आत्मनेपदेष्विति किं ? अस्त्राक्षीत्, अद्राक्षीत् । अत्र कित्वाभावात्
'सृजिदृशोऽर्जल्यमकिति' [६/१/५८] इत्यमागमः ।

ऋवर्णान्ताद् वा गमश्च, हनः सिच् गन्धने यमः ।
दक्षो दाक्षीमुतश्चख्यौ, वा चोपात् पाणिपीडने ॥१२॥

व्याख्या : ऋवर्णान्तादिति । ऋवर्णान्ताद् धातोः परौ लिङ्ग-
सिचावात्मनेपदेषु झलादी कितौ भवतः ।^२ कृषीष्ट, हषीष्ट । सिचि खल्वपि-
अकृत, अहत । 'ह्रस्वादङ्गा'[८/२/२७]दिति सिचो लोपः । झलीत्येव-
वरिष्णीष्ट, अवरिष्ट ।

वा गमश्चेति चकारो लिङ्गसिचोरनुकरणार्थः । ततोऽयमर्थः- वेति
विकल्पेन गमः परौ लिङ्गसिचौ आत्मनेपदेषु झलादी कितौ भवतः ।^३ संगसीष्ट,

१. इको झल् - १/२/९, हलन्ताच्च - १/२/१०

२. लिङ्गसिचावात्मनेपदेषु - १/२/११

३. खल्वपीति यथार्थेऽव्ययम् - ह. टि.

४. उश्च - १/२/१२

५. वा गमः - १/२/१३

समगत, समग्रंस्त । संगंसीष्ट, अत्र कित्वपक्षेऽनुनासिकलोपो भव'त्यनुदातोपदेशवन-
तितनोत्यादीना' [६/४/३७] मित्यनेन ।

हनः सिच् [१/२/१४] इति हन्तेर्धातो परः सिच् किद् भवति ।
आहत, आहसातां, आहसत । सिचः कित्वादनुनासिकलोपः । सिज्ग्रहणं
लिङ्गनिवृत्यर्थ, उत्तरत्राऽनुरूपत्तिर्मा भूत् । आत्मनेपदग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तते, इह तु
परस्मैपदेषु हन्तेर्धभावस्य नित्यत्वात् कित्वस्य प्रयोजनं नास्ति ।^१

गन्धने यम इति सिचावात्मनेपदेष्विति वर्तते । यमेर्धातोर्गन्धने वर्तमानात्
परः सिच्प्रत्ययः किद् भवति आत्मनेपदेषु परतः ।^२ गन्धनं सूचनं परेण
प्रच्छाद्यमानस्याऽवद्यस्याऽविष्करणम् । अनेकार्थत्वाद् धातूनां यमिस्तत्र वर्तते ।
उदायत, उदायसातां, उदायसत । सूचितवान् इत्यर्थः । सिचः कित्वादनुनासिक-
लोपः ।

तथा दक्षो दाक्षीसुतः-पाणिनिश्चख्यौ- अचीकथत् । किं? वा
चोपात् पाणिपीडने इति यमः सिश्चात्मनेपदेष्विति वर्तते । यमेर्धातोः परः
सिच्प्रत्ययो विभाषा किद् भवति आत्मनेपदेषु परतः ।^३ उपायत कन्यां, उपायंस्त
कन्याम् । उपायत भार्या, उपायंस्त भार्याम् । पाणिपीडनं विवाहनं दारकर्मेति
यावत् । उपाद्यमः स्वकरणे [१/३/५६] इत्यात्मनेपदम् ॥१२॥

स्थाच्छोरिच्च विभाषा कूत्वा, थफान्तान्नोपधाच्च सेद् ।

४वश्चिलुञ्चित्रहतश्चाऽपि, काश्यपस्य तृष्णमृषेः ॥१३॥

व्याख्या :- स्थाच्छोरिच्चेति [१/२/२७] सिजात्मनेपदेष्विति वर्तते ।
तिष्ठते-धातोर्धुसंज्ञकानां च इकारोऽन्तादेशः सिच्च किद् भवति आत्मनेपदेषु
परतः । उपास्थित, उपास्थिषातां, उपास्थिषत । घुसंज्ञकानां- अदित, अधित ।
कित्वादन्त्यस्य न गुणः ।

विभाषा कूत्वा थफान्तान्नोपधाच्च सेडिति । नकारोपधाद् धातोः
थकारान्तात् फकारान्ताच्च परः कूत्वा प्रत्ययः सेद् वा किद् भवति ।^४ ग्रथित्वा,
ग्रन्थित्वा, श्रथित्वा, श्रग्नित्वा, गुफित्वा, गुम्फित्वा । नोपधादिति किं ?

१. हनश्च वधः - ३/३/७६

२. यमो गन्धने - १/२/१५

३. विभाषोपयमने - १/२/१६

४. अत्र समाहारद्वन्द्वे पञ्चमी - ह.टि.

५. नोपधात् थफान्ताद् वा - १/२/२३

रेफित्वा, गोफित्वा । “रलो व्युपधादि”त्यपि[१/२/२६] विकल्पोऽत्र न भवति, नोपधाग्रहण-सामर्थ्यादिति स्थित्”मित्युक्तं कृष्णेन । तत्र नोपधाग्रहणस्य कीदृशं सामर्थ्यं ? किं रलो व्युपधेति सर्वत्र नोपधाऽनोपधयोरविशेषेण कित्वप्राप्ते इदमारभ्यते ?, येन सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः इति सामर्थ्यं स्यात् ? यतो नोपधग्रहणेनैव व्युपधत्वस्य व्यवहितत्वाद् रलो व्युपधेति विकल्पस्य सर्वथा बाधितत्वाद् व्यर्थ-मेवेदम् । अत एवाऽभिन्नविषयत्वात् व्युपधाभावेऽपि ‘श्रथित्वा, श्रन्थित्वे’-त्युदाह्रियते । अत एव भाष्यकृद्भगवता बाध्यबाधकभावोऽपि नाऽविश्वक्रे । तेन सामर्थ्यान्तराभावाद् रिफित्वा, रेफित्वा, गुफित्वा, गोफित्वेति विकल्पेन भाव्यं, तथा चार्फित्वेति प्रत्युदाहरर्तु युज्यते । तथा तु नो प्रत्युदाहतं वामनाचार्येण । तेन तदभिप्रायं सम्यग् नावसीयते । हैमधातुपारायणे रिफत् कथन-युद्ध-हिंसा-दानेषु [सिद्ध. धा. १३७६]-रिफति, रिरेफ, रेफिता, रिफितः, न्युपान्त्य इति व्यावृत्तिबलात्, ऋतृष्मृषेति [सिद्ध. ४/३/२४] वौ व्यञ्जनादेरिति [सिद्ध. ४/३/२५] च वा कित्वाभावे क्त्वेति [सिद्ध. ४/३/२९] नित्यमकित्वे रेफित्वेत्युक्तं तदपि विचार्यमाणं विशीयते । थफन्तादिति किं ? संस्तित्वा, ध्वंसित्वा ।

वञ्चिलुञ्चित्रतश्चाऽपि इति वञ्चि लुञ्चि ऋत इत्येतेभ्यः परे क्त्वाप्रत्ययः सेद् वा किद् भवति ।^१ वचित्वा, वञ्चित्वा, लुञ्चित्वा, लुञ्चित्वा, ऋतित्वा, अर्तित्वा । ‘ऋतेरीयङ्’ [३/१/२९]आर्द्धधातुके विकल्पितः^२, स यत्र पक्षे नाऽस्ति तत्रेदमुदाहरणम् । सेडित्येव- वक्त्रवा ।

काश्यपस्य तृष्णेषः ॥१३॥

कृशो हलादेव्युपधा-द्रलन्तात् संस्तथैव च ।

अतिदेश-किङ्नतः प्रोक्ताः सुबोधा उपदेशिकाः ॥१४॥

व्याख्या :- कृश इति काश्यपस्याऽचार्यस्य मतेन तृष्णेषः कृशश्च परः सेद् कृवाप्रत्ययो वा किद् भवति ।^३ तृषित्वा, तर्षित्वा, मृषित्वा, मर्षित्वा, कृशित्वा, कर्शित्वा । काश्यपग्रहणं पूजार्थम् । वेत्येव वर्तते ।

हलादेव्युपधाद्रलन्तात् संस्तथैव चेति । ऊश्च इश्व वी, वी उपधे

१. वञ्चिलुञ्च्युतश्च - १/२/२४

२. आयादय आर्धधातुकेवा - ३/१/३१

३. तृषिमृषिकृशः काश्यपस्य - १/२/२५

यस्य धातुगणस्य स व्युपधः, तस्मादुकारोपधादिकारोपधाच्च धातोर्हलादेः रलन्तात् परः संश्च कूवा च सेटौ कितौ भवतो वा ।^१ द्युतित्वा, द्योतित्वा, दिद्युतिषति, दिद्योतिषति, लिखित्वा, लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति । रल इति किं? देवित्वा, दिदेविषति । व्युपधादिति किं? वर्त्तित्वा, विवर्तिषति । हलादेरिति किं? एषित्वा, एषिषिषति । सेडित्येव- भुक्त्वा, बुभुक्षते ।

अतिदेशकिङ्गतः प्रोक्ता इति स्वरूपेण(णाऽ?)किङ्गतोऽपि सन्तः अतिदेशेन तद्वृत्तकरणेन किङ्गत्कार्यभाक्त्वेन किङ्गतः अतिदेशकिङ्गतः प्रोक्ताः- पूर्वं प्रतिपादिताः ।

सुबोधा उपदेशिका इति उपदेशपाठः तत्र भवाः उपदेशिकाः कूवादयः सुबोधाः- सुखज्ञेयाः ॥१४॥

सुबोधा इत्युक्तं तदेवाऽपवादविषयं प्रदर्शनेन स्पष्ट्यति न कूवा सेट्क इत्यादिना सार्द्धश्लोकेन -

न कूवा सेट्कस्तथा निष्ठा, धृष्टशीडभ्यां स्वन्मिदिक्षिवदः ।
मृषस्तितिक्षावचनात्, तथा भावादिकर्मणोः ॥१५॥
उदुपान्त्याद् विकल्पेन, तथा पूडः कितौ मुनेः ।

व्याख्या :- न कूवा सेट्क इति सह इटा वर्तते यः स सेट्कः । सेट्कः कूवाप्रत्ययः किन्न भवति ।^२ देवित्वा, सेवित्वा, वर्त्तित्वा । सेट्क इति किं? कृत्वा, धृत्वा । कूवाग्रहणं किं? जिगृहीतिः, उपस्निहितिः, निकुचितः ।

धृष्टशीडभ्यां स्वन्मिदिक्षिवद इत्येतेभ्यः परा- धृषादिपरा निष्ठा किन्न भवति ।^३ तथेति सेट्का निष्ठा ‘कृकवत्’ [१/१/२५] रूपा किन्न भवति । धृष- प्रधर्षितः, प्रधर्षितवान् । शीड- शयितः, शयितवान् । स्विदि- प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितवान् । [मिदि-] प्रमेदितः, प्रमेदितवान् । [क्षिवदि-] प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान् । सेडित्येव- स्विनः, स्विनवान् । स्विदादीनां ‘आदितश्च’[७/२/१६]ति निष्ठायामिट् प्रतिषिध्यते । ‘विभाषा भावादिकर्मणो’रिति पक्षे [७/२/१७] इडनुज्ञायते स विषयः कित्वप्रतिषेधस्य ।

१. रलो व्युपधाद्वलादेः सँश्च - १/२/२६ २. न क्त्वा सेट् - १/२/१८

३. निष्ठा शीडस्विदिमिदिक्षिवदिधृषः - १/२/१९

मृष्टितिक्षावचनादिति । मृषेधातोः तितिक्षावचनात् तितिक्षार्थात् सेड्निष्ठा किन्न भवति इति ।^१ मर्षितः, मर्षितवान् । तितिक्षावचनादिति किं ? अपमृषितं वाक्यमाह । तितिक्षा- क्षमा, क्षान्तिरिति यावत् ।

तथा भावादिकर्मणोः उदुपान्त्याद् विकल्पेनेति, उदुपान्त्यात्- उकारोपधात् परा भावादिकर्मणोः सेणिष्ठा वा किन्न स्यात् ।^२ द्योतिं, द्युतिं, तेन प्रद्युतिः, तेन प्रद्योतितः । मुदितमनेन, मोदितमनेन, प्रमुदितः, प्रमोदितः । उदुपधादिति किं ? स्वेदितमनेन । भावादिकर्मणोरिति किं ? रुचिं कार्षपणम् । सेडित्येव- प्रभुक्त ओदनः । व्यवस्थितविभाषा चेयं तेन शब्दिकरणानामेव भवति । गुध् परिवेष्टने [पाणि. धा. ११९५] गुधितमित्यत्र न भवति । कर्मक्रिया एकफलोद्देशप्रवृत्ताऽनेकक्षणसमूहरूपा, तस्या आदिक्षणः आदिकर्म । आद्यक्षणे प्रवृत्ते धात्वर्थभूता क्रिया नाऽप्रवृत्तेति वचनम् । अथवा न्यायसिद्धोऽयमर्थः, आदिक्षणमात्रे क्रियात्वारोपात्, तदुक्तम्-

“समूहः स तथाभूतः, प्रतिभेदं समूहिषु ।

समाप्ते ततो भेदे, कालभेदस्य सम्भवः ॥” इति ।

तथा पूडः कितौ इति पूडः परः क्वाप्रत्ययः निष्ठा च सेड् न किद् भवति ।^३ पवितः, पवितवान् ।

मुनेः- पाणिनः सूत्रानुसारर्ययं गुणातिदेशिकविचारः ।

श्रीमद्गुरोः प्रसादेन प्रापञ्चि मतिकीर्तिना ॥१६॥

श्रीयुगप्रधानश्रीमच्छ्रीजिनसिंहसूरिविजयिराज्ये श्रीमद्गुरुणां श्रीजयसोम- महोपाध्यायानां प्रसादेनाऽनुभावेन मतिकीर्तिना पाठकश्रीगुणविनयविनेयेन प्रापञ्चि- प्रपञ्चितो विस्तारितः । श्लोकबन्धेन पाणिनिसूत्रानुसारेण शब्दानुशासन- निष्णातमतीनां विदुषां पुरः प्रकाशितः इत्यर्थः ।

इति श्रीगुणकित्व-षोडशिका ॥ पं० श्रीजीवकीर्तिगणि-लिखितं ॥

१. मृष्टितिक्षायाम् - १/२/२०

२. उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् - १/२/२१

३. पूडः क्त्वा च - १/२/२२

श्रीमुकीबाई-तेवमास (हरखासुत-शिववाजकृत)

- संपा. रसीला कडीआ

वि.सं. १८९२मां रचायेल ‘श्रीमुरीबाई-महासतीना तेरमास’नी हस्तप्रत ‘श्री कोडाय जैन महाजन भण्डार’मांथी प्राप्त थयेल हती. कुल ५२ गाथामां आ तेर मास निरूपाया छे. मागशर सुद १३ने गुरुवारना रोज तेनी रचना थयेली छे. रचनाकार श्रीशिववाज (सवराज) लोंकागच्छनो श्रावक छे. ते सायलानो निवासी छे. तेना पितानुं नाम हरखा छे.

जैन गुर्जर कवि भा. ६, पृ. ३१२-३१३ पर आ कृतिनी नोंध ‘मूलीबाईना बारमास-५२ गाथा’ ऐम मूकी छे. प्रस्तुत कृतिनो ‘तेरमास’थी उल्लेख छे. जै.गू.क. मां कृतिना आरम्भ-अन्त आ प्रमाणे छे :

आदि :-

हुं तो नमुं सिद्ध भगवंत, मुकी मन आमलो रे
गुण गाउं मुलीबाई सती, सहुको सांभलो रे
सती श्रावण सुंदर मास, कैसे रे वखाणुं रे
जेहनी साख सिद्धांत मोझार, वदवा न जाणुं रे

अंत :-

संवत अढार बांणुअे, जोड्या मागसीर मास रे
तीथि तेरस नें गुरुवार, पख अजवास रे
मूलीबाई तणो महिमा, चउ दस गाजे रे
भणे हरखासुत सवराज, सायलामां बिराजे रे

आ प्रत राजकोटना प्राणजीवन मोरारजी शाह पासे होवानुं नोंधायुं छे. आ प्रतमां मुरीबाईनो उल्लेख मुलीबाई छे. तेरमासनी प्रतमां पण क्यांक मुलीबाई तरीके उल्लेख छे. वली, ‘आदि’मानी ४थी पंक्ति ‘वदवा न जाणुं’ अने प्रस्तुत कृतिमां ‘वढवाण जाणुं रे’नो तफावत ध्यान खेंचे छे. बीजी गाथामां ‘तिहां क्रीडा करे नरनार’ वांचतां अहीं ‘वढवाण’ शहेरनो उल्लेख साचो जणाय छे. अंते कविअे पोतानो ‘सवराज’ तरीके उल्लेख कर्यो छे ज्यारे प्रस्तुत ‘तेरमासा’मां

‘सिवराज’ तरीके उल्लेख छे. ‘बारमास’नी प्रत मळी नथी तेथी बनेना वधु पाठ-भेद नोंधी शकाता नथी.

शीर्षक सूचवे छे तेम आ कृतिमां लोंकागच्छना (स्थानकवासी) साध्वी-महासतीजी-मुरीबाईना तप-शीलना गुण गाती जीवन झरमरने बार-मासी स्वरूपमां आलेखाई छे. लिघ्न्तर करती वखते ‘ष’नो ज्यां ख थतो होय त्यां सीधो ‘ख’ करवामां आव्यो छे. शब्दान्ते अनुनासिक होय तो आगलो वर्ण अनुस्वार ले छे, (जेमके- रतन-रत्नं/जाणुं-जाणुं) अे भाषाकीय वलण नोंधनीय छे.

मध्यकालीन गुजराती साहित्यमां ‘फागु’नी पेठे बारमासी स्वरूप खूब ज खेडायुं छे. अधिक मासवाळूं वर्ष होय तो ते ‘तेरमास’ तरीके पण ओळखाय छे. मोटे भागे जैन कविओओ नेम-राजुल के स्थूलिभद्र-कोशाना जीवनवृत्तान्तने पसंद कर्युं छे. मुख्यतः तेमां बारे मासना विशिष्ट वर्णन साथे नायिकाविरह आलेखायो छे. सामान्यतः अन्त मिलनथी आवे छे. सं. १६४९मां श्रीउदयरत्ने ‘नेमिनाथ तेरमासा’ लख्या छे.

प्रस्तुत कृति अना स्वरूपलक्षणोनी रीते जुदी पडे छे. अहीं नायिकानो विरह अने अन्त मिलन वर्णवाया नथी, पण प्रत्येक महिने श्रीमुरीबाई संयमना मार्गे केवी रीते आगळ वधे छे तेना विकासना सोपान आलेखाया छे. महिनाओनुं विशिष्टता साथेनुं प्रकृतिवर्णन अहीं गेरहाजर छे.

अेक श्रावके साध्वीजीना जीवनने आलेख्युं छे. अमां दरेक महिने अेमनो तप-जपना मार्गे थतो आध्यात्मिक विकास अन्ते संथारो ग्रहण करवा पर्यन्त पहोंचे छे तेनी वात करी छे. कवि पोते पण जैन धर्ममां श्रद्धा राखनारा छे. पोताना घरनी सामे ज, जीवणभाई शेठ अने झामकु शेठाणीअे ‘थानक’ (स्थानक) बनाव्युं होवाथी, कविना दिलने अत्यन्त आनन्द उपजे छे. ते समये वखतचंद राजा राज्य करतो हतो तेवी औतिहासिक माहिती पण अहीं मळे छे. कवि पोते स्थानकवासी जैनमतमां ऊँडी श्रद्धा धरावनारा अने धर्मानुरागी श्रावक होवानुं उपरोक्त माहिती जणावे छे.

प्रस्तुत रचनाना प्रत्येक मासमां कुल ४-४ गाथाओ छे. श्रावण मासथी तेनो प्रारम्भ थाय छे, जेमां मुरीबाईना जन्मस्थळ अने मातपिता तथा बाळपणनी

વિગતો મલે છે. મુરીબાઈ દશા-શ્રીમાળી વળિક શ્રીરતનશા અને અમૃતબાઈથી થયેલ પુત્રી છે. તેઓ બઢવાળમાં રહેતા હતા. મુરીબાઈ રૂપે અને ગુણે અજોડ હતાં. પિતાને પ્રાણના આધાર સમ હતાં. આજાંકિત હોવાથી માતા-પિતાને ખૂબ વહાલાં હતાં. બાળપણથી જ પૂર્વપુણ્યના સંસ્કારો જાગૃત થયા હોય તેમ ધર્મને પામેલાં હતાં. ધર્મમાં અનન્ય રૂચિ હતી.

બીજા માસ (ભાદરવા)માં મુરીબાઈની યૌવન અવસ્થાનું વર્ણન છે. કોઠારી નાનજી સાથે લગ્ન થયા. ઓરમાયા સન્તાન હોવાની વાત છે, જેથી નાનજી કોઠારી બીજવર હોવાનું જણાય છે. સંસાર માંડળો છે પણ મનમાં વૈરાગ્ય વસેલો છે. રંગભોગની વાત તેને તુચ્છતી નથી. ભક્તિમાં સદા તલ્લીન રહે છે. સદા તપ-આયંબિલ કે ઉપવાસ કરતી રહે છે. સાધુ-સાધ્વીને સૂજીતો આહાર વહોરાવવો ગમે છે. અષાઢ માસમાં જેમ મેઘ મુશલ્ધધાર વરસે છે તેમ મુરીબાઈ ધર્મકાર્યોમાં - (ખોડાઢોરને ખાણ આપવું, ગરીબગુરબાંને દાન આપવું, પતિની સંપત્તિનો અનેક જરૂરિયાતોને દાન આપી યોગ્ય ઉપયોગ કરવો) - વ્યસ્ત રહે છે. ઘરમાં ઓરમાન સન્તાનોને પોતાનાં કરી લીધા છે. અમની આંખ ક્યારેય માની યાદ આવી ભીની ન થાય તે જુઅે છે.

ત્રીજા (આસો) માસમાં મુરીબાઈનો આન્તરિક વૈરાગ્ય વિશેષ દૃઢ થતો વર્ણવ્યો છે. સદા ઉપાશ્રયે જતી રહેતી હોવાથી, સંસારમાં અને હવે કશી આશા જણાતી નથી. ‘સંસાર ચાર દિવસના ચાંદરડા જેવો છે, કઠપૂતલીનો ખેલ છે, એ જ્યાં કર્મના માર્યા નચાવે તેમ નાચવાનું છે. સગાવહાલાં ઘણાં છે પણ અન્ત સમયે તો કોઈ સાથે આવનાર નથી તેથી આ સંસાર-દાવાનલ્લમાંથી – બલ્લતામાંથી - મને બહાર કાઢવી જોઈએ’ અનું મંથન શરૂ થાય છે. ઉપાશ્રયમાં આઠે પહોર આવી, સતી-સાધ્વીનાં ચરણો સેવે છે. બીજી બાજુ, મોહ-મમતા છોડી, ધનનો છૂટે હાથે દાન આપવામાં, સાધ્ર્મિક ભક્તિમાં, વિકલાંગ પ્રત્યે વિશેષ વહાલ દર્શાવી, અનેક જીવોને શાતા પહોંચાડે છે.

ત્રીજા મહિનામાં સંસારના જૂઠા સ્વરૂપને ઓલ્લખી, મુક્ત થવાનું મન્થન ચાલતું બતાવ્યું હતું. હવે ચોથા (કારતક) માસમાં એ માર્ગે પ્રયાણ થાય તેવી, કરણીમાં પરિવર્તિત થાય છે. સતત અરિહન્ત દેવનું ધ્યાન કરે છે. વસ્ત્રો પહેરવામાં સાદાઈ આવી. શાણગારનો ત્યાગ કર્યો. વિષય-કષાય છોડ્યા. ખાવા-

पीवानी अनेक वानगीनो त्याग कर्यो. सेंथो पूरवानुं छोड्युं. पांथी पाडवानुं पण छोड्युं. आंखमां काजळ लगाववानुं छोडी दीधुं. मधुर कण्ठ हतो छतां हवे मोटे अवाजे गाती नथी, क्यारेय निन्दा-कूथली करती नथी. मोटेथी हसती नथी. सत्संगनो महिमा समजती थई छे, तेथी ज्यां सोबत बराबर न लागे त्यां ते सोबतथी दूर रहे छे.

पांचमा (मागशर) मासमां मुरीबाईनो अध्यात्मभाव ऐटलो विकसे छे के आर्या आणंदबाई जेवा गुरु मळे छे अने तेमनी पासे धर्मनो अभ्यास करे छे. बार व्रत अंगीकार करे छे. हवे मुरीबाईने घरना काममां चित्त रहेतुं नथी, वधुने वधु समय ते उपाश्रये आणंदबाई पासे शीखती रहे छे. सामायिक, प्रतिक्रमण अने पोसहनी लेह लागी छे. अस्थिर संसारमां रहेवुं अने माटे हवे केदखाना जेवुं थई पड्युं छे. संयम मार्गे क्यारे जाऊं, क्यारे घेर आवन-जावनना फेरां बंध थशे ? क्यारे मोहनी तांत तोडुं ? - आ ज लेह लागी छे हवे मुरीबाईने !

छां (पोष) मासमां मुरीबाई हवे संसारमांथी नीकळवानो मक्कम निरधार करे छे. घरमां सौने स्पष्ट जणावी दे छे के पोताने हवे दीक्षा लेवी छे, आ वातनी आडे कोइअे आववुं नहि. अहीं मुरीबाईना चारित्र्यनी उत्कृष्टता कविअे सरस वर्णवी छे. घरमां सौ प्रथम आ वात सांभवी, ओरमान दीकरो आ वातनो विरोध करे छे. कहे छे - “शा माटे तमारे दीक्षा लेवी ? लाडकोडथी उछेर्या पछी हवे मने छोडीने जशो ? क्यारेय अमने कडवां वेण कहां नथी. माथीये अदकेरो स्नेह तमे आप्यो छे.” आम कही दीकरो चोधार रडी पडे छे. पीयरनो परिवार पण करगरे छे. पण मुरीबाई सौने संसारनुं दुःख, संसारनुं स्वरूप वर्णवे छे अने सौने पोतानी वात माटे मनावी ले छे.

सातमा (माह) मासमां संयम लेवानी तैयारी दर्शावी छे. पात्रां ने पुस्तको लीधां. खूब ज धन खरच्युं. लींबडीमां आवीने दीक्षानो उत्सव कर्यो. लींबडीना शेठ रघुभाईअे आ उत्सव पोताने शिरे ऊठावी पुण्यकर्म बांध्युं. रत्नबाई तेमना गुरु बन्या. दीक्षाना पाठ, नवा ग्रन्थो, जीव-अजीवना भेद, चोराशी लाख योनि वगेरे शीखवाड्या.

आठमा मास (फागण)मां अेमणे लीधेली दीक्षानी वात छे. सं. १८६५ना

वसंत मासनी वद चोथे, श्रीरतनबाईना हाथे दीक्षा थई. रलचिन्तामणि सरीखा महाव्रत पामी मुरीबाई खुश छे. संसारसमुद्रमांथी मारा गुरुजीअे डूबतांनी बांय पकडी मने बहार काढी छे अेनो अेमनो सन्तोष छे. अटले ज कुटुंब कलकले छे, पीयरनो परिवार ध्रूस्के ध्रूस्के रडे छे त्यारे काचना कटका माटे शुं रल खोवाय ? अम समजावी, दरेकने शक्ति प्रमाणे व्रत-पञ्चक्रांत उचरावे छे.

नवमा (चैत्र) मासमां तेओ विचारे छे : “आयखानो कशो भरोसो छे नहि तो तप करीने कर्म टाळवा अे ज अेक उपाय छे.” आथी अमणे छठु अने अठुम तप शरू कर्या. ९६ दोषनो त्याग करी, निर्दोष आहार वापरतां. (श्वेतांबर मूर्तिपूजक सम्प्रदायमां आहारना दोष $42+5 = 47$ गणाय छे. स्थानकवासी सम्प्रदायमां ९६ दोषो गणाव्या छे.) उपवासो वधता जाय छे. १५ उपवास तो असंख्य वार करे छे. मासखमण (महिनाना उपवास) करवाना शरू कर्या. कायाने भाडुं आपवानुं समजी, विगयत्याग करी, लूखुं अन्न वापरता. लीलुं शाक खावानुं यावज्जीव छोड्युं. पोते क्यारेय चेली नहि करे तेवो निरधार करे छे. जेम आंबाना लाकडानो थांभलो मजबूत- टकी शके तेवो नथी होतो तेम आ देह काचा कुप्प घेठे गमे त्यारे तूटी जवानो छे तेम समजी, तपमां अने वीर प्रभुना गुण गावामां लीन रहे छे.

दसमा (वैशाख) मासमां तप हजु वधु उग्र बनतुं जाय छे. हवे आहारमां मात्र बे ज द्रव्य ले छे. वस्त्रो जूनां पहरे छे. छाश अने लोट वापरे छे. ९३ दिवस सुधी आ ज आहार रह्यो त्यारे आंखो तगतगवा लागी. जे जोइने शेठ रघुभाईअे अेमने विनती करीने बे रोटली लेवाने समजावी दीधां. आ आहार उपर तप तो चालु ज हता. शरीर हाडपिंजर बनी गयुं. शरीरनी नसोनुं जाळुं देखावा लाग्युं. आम, तप करी, कायामांशी जाणे सर्व कस काढी लीधो.

अगियारमा (जेठ) मासमां हवे मुरीबाईने देहनो जाणे के भार लागे छे ! क्यारे अने वोसिरावुं ? आथी, तप उग्रतर बनतुं चाल्युं. आठ उपवासने पारणे दस उपवास अेवुं घणा दिवस चाल्युं. परिषहो सह्या - नित्य नवा नवा. सिंह घेठे दीक्षा पाळी. रागद्वेषने तो चकचुर कर्या. सर्पनी कांचवी जेवुं शरीर थई गयुं. मात्र अेमां हवे आत्मा ज अेकलो रह्यो छे, बाकी कायामां कशुं नथी.

संथारो हવे निश्चित हशे अम जणावी कवि हवे बारमा मास (अषाढ)ने वर्णवे छे.

अषाढ मासे अनशन लई, खमतखामणां करी, देह वोसराववानुं मुरीबाईअे पगलुं भर्यु. रघुभाई तथा मेघबाई शेठाणीअे सती-साध्वीओने अलटभेर दान आप्यां. खेतशीभाईनी पुत्री झमकुबाई तेमनी सेवामां रही. १३ दिवसनो संथारो करी सं. १८९०ना अषाढ सुद १४ना शुक्रवारना रोज स्वर्गवास-काळधर्म पाम्या. मुरीबाईनी जीवनकथा अहीं पूरी थाय छे.

तेरमा अधिक मासमां कवि पोतानी अने पोताना समयनी विगतो आपे छे. कविना घर्नी पासे स्थानक (उपाश्रय) छे. जीवणभाई शेठ अने झमकुबाई शेठाणीअे करावेल छे. आ स्थानक जोइने कविनुं दिल ठरे छे. साधुजननी सेवा, हृदयमां भक्ति लावीने करवानी ते प्रेरणा आपे छे. मानवनो भाव दुष्कर छे. पुण्यकर्मने कारणे उत्तम अेवो जिनधर्म प्राप्त थयो छे तेनी कवि सराहना करने छे.

आ रचनासमये न्यायप्रिय राजा वखरसिंह राणा राज्य करता हता. अंते तेओ प्रस्तुत रचनानी साल अने कविनाम आपे छे ते मुजब आ रचना सं. १८९२ना मागशर सुद १३ने गुरुवारना रोज करवामां आवी छे. अर्थात् मुरीबाई महासतीना काळधर्म पाम्या बाद बे वर्षमां ज आ रचना थई छे. कविअे पोताने हरखाना दीकरा शिवराज (जे सायलामां रहे छे) तरीके ओळखाव्यो छे.

आम, आ तेरमासा अे परम्परित बारमासी प्रकार करतां थोडुं अलग प्रकारनुं होवाथी, तेमां तत्कालीन समयना राजानी, कविनी माहिती होवाथी, औतिहासिक मूल्यवत्ता धरावे छे. अहीं परम्परित प्रकृतिवर्णननी ओथ लेवाई नथी, के विरहनो ऊँडो, उत्कृष्ट सूर नथी, छतां श्रीमूरीबाई महासतीना तपोमय जीवननी झरमर कशाय ओप विना अेवी सुन्दर रीते आलेखी छे के श्रीमूरीबाईनी मोक्ष मार्गनी लेह उत्कृष्टपणे दर्शावी शक्या छे. अे रीते आ कृति अनोखी छे.

महासती मुरीबाईना तेर मास

ॐ नमः सिद्धं ।

अथ श्रीमुरीबाई महासतीनां मैना लिखा छे.

(हरीनामना मैनानी देशी)

हुं तो नमुं रे सिद्ध नरंद, मूकी आंबलो रे.

गुण गाडं मुरीबाइ सती, सौ को सांभलो रे.

सती श्रावण सुंदर मास, जेसे जेसे वखाणु रे.

जेनी सांख्य सिद्धांत मोझार, वढवाण जाणु रे. ॥१॥

तिहां क्रीडा करे नरनार, बेटां गोख जाली रे,

तेमां रहे रतंनसा वणीक, दसो श्रीमाली रे.

तस्य घरुणी अमृतबाई, मधुरुं बोले रे.

तस्य कुंखे उपनां मुरीबाई, नहिं तस्या तोले रे ॥२॥

अमृतजाइ सुता सोय, सुंदरी सारी रे,

जेनां रूप तणो नहि पार, सुर अवतारी रे,

मात पित्या तणुं वचनं, मुलीबाई न लोपे रे.

पित्यानें प्राण आधार, कदी नव कोपे रे ॥३॥

बालापणमां बाई, कुचाल नवि चाली रे.

मातानें तु(उ)रणीवे, तनया बहु वाली रे.

पूर्व पुंच तणे पसाय, पामी धर्म वेलो रे.

भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ पहेलो रे. ॥४॥१

॥ मास बीजो ॥

सखी भादरवे भरपूर, जोबंन जब आयो रे.

कोठारी नानजी घेर, सगपण करायो रे.

परणी आवी पतीनें घेर, करे बहु भगती रे.

जेनें मन वसीयो वैराग, डगावी न डगती रे. ॥१॥

जेनें रंगभोगनी वात, मन नथी गमती रे,

ओ तो करे उपवास आंबिल, आतम बहु दंमती रे.

नारी पासे निर्मल सील, करंम बहु कापे रे.
 साध साधवीने सुझंतां आहार, मुरीबाई आपे रे. ॥२॥
 वस्त्र-पात्र पोषे अपार, पाले धर्म गाढो रे.
 जिम वरसे मुसलधार, मेघ आसाढो रे.
 खोडा ढोरने खवरावे खांण, अजा बहु उगारे रे.
 रांकढीकनें दीये गर्थ, दोष निवारे रे. ॥३॥

गर्थ तणां भर्या भंडार, दान बहु दीधा रे.
 आप्या मांनवि राखी ओझ, मंनुखा लावो लीधा रे.
 ओरमाया उपर आंख्य, खुणो नवि भीज्यो रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ बीजो रे. ॥४॥ सळंग ८

॥ मास त्रीजो छे ॥

आसोअे आसा तोडि, संसारनी सर्वे रे.
 मुरीबाई मन करे विचार, कर्म कुंण करवे रे.
 आ तो चार दिवसनां चांदरडा, बाजीगरनी बाजी रे.
 संसारना खोटा खेल, थावुं सुं राजी रे ॥१॥

सगासागवा बहु कोय, छे सुखनां बेली रे.
 अंत समें आपणुं नहि कोय, जावुं मेली रे.
 हवे बलतामांथी काढुं, जे दउं मारे हाथे रे.
 ते मारुं निरधार, आवे मारे साथे रे. ॥२॥

मोह ममता मुरीबाई, न राखे लिगार रे.
 धर्म-हेते वावर्युं धन, गरथ भंडार रे.
 तृसा कर्या घंणा जीव, साता उपजावे रे.
 साधर्मीसुं घंणो सनेह, धर्म गुण भावे रे. ॥३॥

कंगाल तणो जांण्यो, मुरीबाई मालवो रे.
 लुला अपंग जे जीव, तेंने पालवो रे.
 अपासरे आवे आठे पोर, सेवे सति चरण रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ त्रण रे. ॥४॥ सळंग १२

॥ मास चोथो ॥

सखी आव्यो कार्तक मास, जे करणी मांडी रे.
मुरीबाईँ विषय कषाय, मेल्या सर्व छांडी रे.
आछो वस्त्र पेरे नहि अंग, सणघार न सजे रे.
अेक मनें अरिहंत देव, ध्यान धरी भजे रे. ॥१॥

मुख वावरे नहि मुखवास, सोपारी नवि खावे रे.
जेनें गंमें जाननी गोठ, अंतरमां भावे रे.
करे नहिं अंजन मंजन, सेंथो नवि पूरे रे.
गीत गावें नहिं सरले साद, कंठ मधुर रे. ॥२॥
वलि विकथा केरी वात, कदी नवि करे रे.
जेथी लागें पोतानें पाप, तेथी बहु डरे रे.
दांत देखाडी करे नहिं गुझ, हसी नवि ल्ये ताली रे.
कदी केस तणें अलंकार, पाती नवि ढाली रे. ॥३॥

नारी नीच तणी संगत, कदी नवि करे रे.
जेनां वचन अमृत समान, दीठे दिल ठरे रे.
स्त्रीचरित तणो लवलेश, न जाणे लिगार रे.
भणे हरखासुत सिवराज, मास अे च्यार रे. ॥४॥ सळंग १६

॥ मास ५मो ॥

सती मागसरे मोहनी, मुरीबाई उतारी रे.
द्वादश कीधा अंगीकार, थया वृ(ब्र)तधारी रे.
आरजाजी आणंदबाई, सती सुधा वखांणु रे.
सीखवी मुरीबाईने समाग, प्रथम जाणु रे. ॥१॥
करे पोसा नें पडिकमणा, दिनमां दोय वेला रे.
सतीनों करे घणुं संग, रहे नित्य भेला रे.
मुरीबाई न करे घरनों कांम, धर्म लय लागी रे.
विषय-वेल तणा जे जोर, मुक्या सर्वे त्यागी रे. ॥२॥
जेणें जाण्यों अधिर संसार, सुख जाण्यां काचा रे.
भाक्सी सरिखा जाण्यां भोग, मुरीबाई साचा रे.

चित चिंतवण करे अह, संसार के दी मेलूँ रे.
 बलतामांथी नीकली बार, संजम के दी खेलूँ रे। ॥३॥
 घरे आवणनां फेरा, कदी हुं छंडुं रे.
 जो तूटे मोहनी तांत, तो कर्मने खंडुं रे.
 मारे लेवो संजम भार, नावे केनें आंच रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ पांच रे। ॥४॥ सळंग २०

॥ मास छठो ॥

सती पोषे थइ प्रसिद्ध, दिख्या वात काढी रे.
 मारे लेवो संजम-भार, मत करो कोई आडी रे.
 बोल्यो ओरमायो दीकरो, के सुंण मारी माय रे.
 मारी सती सिरोमणी मात, विजोग किम थाय रे। ॥१॥
 लाडे कोडे रूडी पेर, उछेर्या अमने रें.
 संसार तज्जो स्या माट, घटे नहि तंमने रे.
 मारी जननी अंगजायाथी, वधु तमे राख्या रे.
 कदि कडवा कोहेला वेण, मनें नहि भाख्या रे। ॥२॥
 हाथ जोडीनें करगरे, मानों मारुं कयुं रे.
 तमें ल्यो छो दिक्षानों नाम, नवि जाय रयुं रे.
 के छे पीयरनों परिवार, सउ को करगरी रे.
 अखि वरसे जलधार, नेत्र भरीयां मंन गली रे। ॥३॥
 मुरीबाई संसारनुं दुःख, वरणव्युं वली रे.
 उतर्यों सहुनें अंगोअंग, गया मंन गली रे.
 आज्ञा लीधी ततकाल, करी झटपट रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ छठो रे। ॥४॥ सळंग २४

॥ मास सातमो ॥

महा मैने मुरीबाई, करी छे सारी रे.
 जेनें संजमनी सामग्री, लागे घणुं प्यारी रे.
 लीधा पात्रा नें पुस्तक, खरच्यां धन घणा रे.
 सहुने मंन उलट भाव, न राखी मणां रे। ॥१॥

आव्या सेर लींबडी मुझार, सती मुरीबाई रे.
 कर्यो दिख्या तणो ओछव, सेठ रघुभाई रे.
 जिन मत दीपाव्यो जोर, भली भली भांते रे.
 सेर लींबडीना साहुकार, वावरे पुन्य खाते रे ॥२॥
 मुरीबाई थया उजमाल, हरख नवि माय रे.
 मुनें अदरावो महाब्रत, क्षिण लाखेणी जाय रे.
 कर जोडी मुलीबाई कहे, सिर नामी रे.
 रतनबाई आपो दिक्षाय, करी मेरबांनी रे. ॥३॥
 सीखवे दीक्षा तणा जे पाट, नित्य नवा ग्रन्थ रे.
 सीख्या जीव-अजीवनां भेद, जाण्यां सर्व अर्थ रे.
 चोरासी लाख जीवा, जोंननी जांणी जात रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ सात रे. ॥४॥ सळंग २८

॥ मास आठमो ॥

फागणे फेरा मिटाया, आवणगमणनां रे.
 मुरीबाई आदर्या महाब्रत, रतन चिंतामणनां रे.
 सवंत अढारसें पांसठ, वसंत मासे रे.
 वदि चोथे लीधी दिक्षाय, रतनबाई पासे रे. ॥१॥
 कुटंब सहु कलकले, सामों नवि जुवे रे.
 पीयरनों परिवार, ध्रुसके उवे रे.
 मुरीबाई कहे ततकाल, स्या माटे रुवो रे.
 तमे काचनां कटका माट, रतन केंम खोवो रे. ॥२॥
 भंमतां अनंता काल, मनुष भव आव्यो रे.
 कांइ आदरो सत सीयल, लहो धर्म लावो रे.
 आदरीया व्रत पचखाण, जेनी जेवी सगती रे.
 मुरीबाई आव्या रतनबाई पास, करे बहु भगती रे. ॥३॥
 संसार समुदरमांथी, गुरणीजीये तारी रे.
 मारी बुडतांनी झाली बांह, काढी मुनें वारी रे.
 संजम खेले खांडाधार, करे पूरण खाटे रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ आठ रे. ॥४॥ सळंग ३२

॥ मास नवमो ॥

चईतरे चित जोयुं, मुलीबाई विचारी रे.

आउखानो भरेसो नाहिं, घडि जाय प्यारी रे.

आवसे परदेसी आणां, पाढ्यां नहि वले रे.

मुंने आवेला आ जोग, पछें नहि मले रे. ॥१॥

जो बांधुं तप तरवार, तो शिवसुख मले रे.

जो कुं करणी अघोर, तो कर्म ज टले रे.

करे छठ नें अठम, बेसे आसन वाली रे.

निर्दोषण लावे आहार, छनुं दोष टाली रे. ॥२॥

मासखमणा करे मंनगंमता, पंनरनो नहि पार रे.

कर्मने दीधो दावानल, बाली कीधो छार रे.

विगय मात्र वावरे नाहिं, लुखुं लावे अन्न रे.

काया जाणी भाडारूप, आपें जांणीउ गंन रे. ॥३॥

नीलुं वंजन वरज्युं जावजीव, चेली नव्य खपे रे.

वीर प्रभुजीनां गुण गाय, बेठा मुख जंये रे.

काचा कुंभ सरिखी जांणी देह, न करो आंबा थुभो रे.

भणे हरखासुत सिवराज, मास अे नोमां रे. ॥४॥ सळंग ३६

॥ मास १०मो ॥

वैसाके वावरे द्रव्य दोय, त्रीजुं द्रव्य नव्य लीये रे.

सति जुनां पेरे वस्त्र, छास लोट पीये रे.

त्राणु दिन पीधी वलि प्रास, आंखुं तगतगे रे.

अे सती आगल सुंदरी, बीजी नव्य लागे रे. ॥१॥

सेठ रघुभाई करी वीनती, समझावी दीधा रे.

बे रोटलीनां लीधा आहार, उपरे आकरा तप कीधां रे.

हालंतां खडखडे हाड, पग दोरी समान रे.

नस-जालुं नरवी देखाय, जिह्वा सुकुं पान रे. ॥२॥

आप तणो अवगुण लेवे, परनें सोभा देता रे.

हुं एक जिह्वांइ करी, वर्णव करुं केता रे.

सौनां उपरे समताभाव, नहिं केनें दुखदाई रे.
 अजवाल्युं कोठारीनुं कुळ, सती मुरीबाई रे. ॥३॥
 वच्चन कथंन तणा जे वेण, न धरें काने रे,
 जेनें अडाव्युं मोक्षसुं मंन, करी ओकध्याने रे.
 तप करी कायामांथी, काढी लीधो सर्व कस रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास ऐ दस रे ॥४॥ सळंग ४०

॥ मास इग्यारमो ॥

जेठे जांणपणुं सतीये, घणुं आण्युं रे.
 कदि वोसरावूं मारी देह, बने अवुं टांणुं रे.
 पछे बांधी तपनी टेक, अन्न नवि खावुं रे.
 आठनें पारणे दस, अवुं बहु दिन चलाव्युं रे. ॥१॥
 वलि परिसा तणी चोट, नित्य नवी मेले रे.
 जो आवे देव दांणव, तेथी नव्य छले रे.
 सूरपणे लीधी दिक्षा, सीहपणे पाली रे.
 रागद्वेष कर्या चकचुर, कर्म दीधा बाली रे. ॥२॥
 लालच नें लपसा लेप, नहिं लगारि रे.
 ऐ साची सती मुरीबाई, जाउं बलिहारी रे.
 सुके भुके कर्यो सरीर, नहि रुद्र नें मांस रे.
 मांहि रयो वालो वलगी, जीव तणो हंस रे. ॥३॥
 सर्पनुं खोखुं जेवुं, अवी करी काया रे.
 तप करी सोस्युं सरीर, नवि राखी माया रे.
 हवे करसे संथारो सती, संदेह नैं लगार रे.
 भणे हरखासुत सिवराज, मास इग्यार रे. ॥४॥

॥ मास बारमो ॥

सती आसाडे अणसण, आलवी सुता रे.
 अनंता भवना काप्या, कर्म जे खुता रे.
 नमण खमण मुरीबाई, बहुविध कीधी रे.
 खंमत खांमणा खंमावी देह, वोसिरावी दीधी रे. ॥१॥

सेठ रघुभाई घेर जाणो, मेघबाई सेठांणी रे.
जेणे आप्या सतीयुं नें दांन, उलट भाव आंणी रे.
खेतसीभाई धुया झमकुबाई, करे सुत अर्थ रे.
सतीयुंनी करे सेवा, अंत समें समृद्ध रे ॥२॥

वैराग घोडे थया असवार, सती मुरीबाई रे.
धंन माता अंमृत कुंख, मणीरतंन जाई रे.
सुभ प्रणामनें सुभ लेसा, अंत समें आवी रे.
गया देवलोक मोङ्गार, कर्म खपावी रे. ॥३॥

अजवांली चौदस दिन, आथमी बेठो मेर रे.
सुक्रवारे सीधो संथार, चाल्यो दिन तेर रे.
ने युवानें असाडे, निरवाण पोता निरधार रे.
भणे हरखासुत सिवराज, मास ओ बार रे. ॥४॥ सळंग ४८

॥ मास अदिक ॥

अदक मासे अदका करी, सती गुण गावो रे.
तमें करो करणी दिन रात, कर्म खपावो रे.
सतीनुं थयुं सुध कांम, आप विचार करवो रे.
जप तपने सत सीयल, चितमां धरवो रे. ॥१॥

उत्तंम धर्म जिन-मार्ग, मल्यो पुन्य जोगे रे.
दुकर मानवनो भव, भाष्यो वीतरगे रे.
मारा घर पासे थांनक, दीठे दिल ठरे रे.
राणो वखतसंग भुपाल, अन्या नवि करे रे. ॥२॥

जीवणभाई कराव्यो थांनक, घरे झमकुं सेठाणी रे.
जों गाया अविचल प्रताप, साख समाणी रे.
साधुजननी करो सेवा, भगती लावन रे.
पूरा थया मास तेर, गाथा बावन रे. ॥३॥

संवत अढारसे बाण्यंये, जोडी मागसर मास रे.
तिथि तेरस नें गुवार, पख अजवास रे.

मुरीबाई तणो महिमाय, चिहुं दिसि गाजे रे.
भणे हरखासुत सिवराज, सायलामां विराजे रे. ॥४॥

इति श्री महाशती मुरीबाईनो १३ मास संपूर्णम् ॥
श्रेयोस्तु सुभं भवतु ॥

शब्दार्थ

कडी/पंक्ति

- १/१ आंबलो = वट
- २/३ घुणी = गृहिणी/स्त्री
- २/४ उपनां = जन्म्या
- ४/३ पसाय = कृपा थकी
- ७/३ अजा = बकरी
- ७/४ रांकढीक = गरीबगुराबां
- ७/४ गर्थ = धन
- ८/२ ओझ = उदारता
- १०/१ सगासागवा = सगावहाला
- ११/३ साता = शांति/शाता
- १२/१ मालवो = मालव देशनो राजा
- १४/४ सरले साद = दीर्घ/प्रलंब अवाजे
- १५/४ पाती = पांथी/सेंथो
- १७/४ समाग = समाय/सामयिक ?
- १९/१ अथिर = अस्थिर/चंचळ
- १९/२ भाक्सी = केदखानुं
- २१/१ दिख्या = दिक्षा
- २७/२ अदरावो = आदरवुनुं प्रेरक
- २८/३ जोंन = योनि
- ३१/३ सगती = शक्ति
- ३२/३ खाटे = लाभ थवो

कडी/पंक्ति

- ३५/२ छार = राख
- ३५/४ गंन = गुण
- ३६/१ नीलुं = लीलुं
- ३६/१ वंजन = व्यंजन/शाक के चटणी जेवी वानगी
- ३६/३ आंबा थुभो = आंबाना थांभला जेवो निःसार
- ३६/४ नोमो = नवमो
- ३७/३ प्रास = प्राश/खावुं/आरोगवुं
- ४०/२ अडाव्युं = लगाड्युं
- ४१/२ वोसरावूं = त्यजुं
- ४२/१ परिसा = परिषह ? = कर्मनी निर्जरा अर्थे स्वेच्छाथी भोगवाता कष्टे
- ४३/३ रुद्र = रुधिर
- ४६/३ धुया = पुत्री
- ४७/३ लेसा = लेश्या = अध्यवसाय = भाव परिणाम
- ४८/२ सीधो = सिद्ध थवुं, सफल थवुं
- ४८/३ युवाने असाडे = अषाढना मध्य भागे
- ४९/१ अदक = अधिक
- ५०/४ अन्या = अन्याय